शिक्षा का स्वरूप

मानवीय चेतना से तय हो न कि बाजार की जरूरतों से

आलोक कुमार मिश्रा

मोहल्ले में हमारे एक पड़ौसी की चर्चा उनकी तीन साल की बेटी की वजह से आजकल खूब जोरों पर है। कारण है तोतली आवाज में बच्ची द्वारा कुछ याद करा दिए गए प्रश्नों का उत्तर अंग्रेजी में फटाफट देना। अधिकतर प्रश्न सामान्य ज्ञान टाइप के हैं जिन्हें दूसरों के सामने वह पड़ौसी दम्पति बड़े विश्वास के साथ बच्ची से अंग्रेजी में पूछता है और बच्ची भी कभी खुश होकर, कभी ऊबते हुए उनका उत्तर फटाफट देती जाती है। प्रश्नों की खास प्रवृत्ति यह भी है कि उसमें अमेरिका संबंधी भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक जानकारी पर फोकस है। यह दम्पति हर बार की प्रश्नोत्तरी के बाद यह बताना और जताना नहीं भूलता कि वे अपनी बेटी को पढ़ने के लिए यूएसए भेजेंगे और इसी की तैयारी के लिए उसका दाखिला एक मंहगे इंगलिश मीडियम प्राइवेट स्कूल में कराया गया है। हमारे यहां बच्चों के लिए अपेक्षाओं से पगे भविष्य की तैयारी वैसे तो लगभग हर मां-बाप के लिए सामान्य बात है। पर मध्यवर्गीय परिवारों में अपेक्षाओं का यह बोझ पूंजीवादी प्रतियोगी बाजार व्यवस्था में टिके रहने के लिए निरंतर कौशल विकास करते रहने, अंग्रेजी में पारंगत होने जैसी खुद उनके द्वारा भोगे गए अनुभव से निर्मित होता है। इन अनुभवों में रचनात्मकता और आलोचनात्मक क्षमता जैसे गुणों के विकास की जगह निर्देशों के कुशलतापूर्वक पूर्ण होने, किसी खास काम को करने में निपुण होने जैसी बातें ज्यादा जरूरी मानी जाती हैं। चूंकि निरंतर परिवर्तनशील बाजार व्यवस्था में टिके रहने के लिए भी कोई गारंटी नहीं होती इसलिए बदलाव के अनुरूप हमेशा तैयार रहना और वो भी बिना कुछ सोचे समझे या प्रश्न उठाये बहुत जरूरी है। यहां शिक्षा की भूमिका मात्र आर्थिक संरचना और उसके लक्ष्यों की पूर्ति करने वाले साधन की है। पर क्या यह पर्याप्त है? क्या मानव जीवन का लक्ष्य चल रही व्यवस्था में जगह बनाना मात्र है? इसमें स्वयं उसकी इच्छा, क्षमता, रचनात्मकता और विकास के अवसर के लिए क्या कोई जगह है?

हाल ही में एक संगोष्ठी में बोलते हुए प्रमुख शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार ने वर्तमान में प्रचलित शिक्षा के इसी सीमित आर्थिक समझ पर आधारित होने पर अपनी निराशा जताते हुए इसे भावी पीढियों के लिए खतरनाक बताया। उनके अनुसार इतनी असुरक्षित और गैर टिकाऊ विकास पर आधारित यह दुनिया ज्यादा आगे तक नहीं जा सकती। इसके लिए हमें अपने बच्चों को जागरूक, संवेदनशील और आलोचनात्मक चेतना से लैस बनाना होगा जिससे वे उपयोगी व सकारात्मक हस्तक्षेप करने योग्य बनें, अपने आसपास की दुनिया की समस्याओं की समझ बनाते और उससे जूझते हुए निदान ढूंढ पाएं। पर आज जब बस टिके रहने हेतु आवश्यक आर्थिक कौशल को ही शिक्षा का पर्याय माना जा रहा हो, समाज और प्रकृति की स्वभाविक विविधता से परे एकल व उग्र राष्ट्रीय पहचान पर लोगों को भावुक बनाकर भ्रमित किया जा रहा हो तो इन पर कैसे बात की जाए? कैसे मौजूदा स्वरूप और विमर्श को बदलकर शिक्षा के व्यक्तिगत और सामूहिक लक्ष्यों की पुनर्व्याख्या की जाए?

इसका कोई एक जवाब तो निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता। मजबूती से जम चुकी पूंजीवादी-बाजारवादी अर्थव्यवस्था जो प्रतियोगिता के नियम और लाभ के उद्देश्य से संचालित है, शिक्षा व्यवस्था को भी इसी के अनुरूप सहयोजित करने में लगी हुई है। आज भले ही विभिन्न देशों में निर्धारित और घोषित शैक्षिक पाठ्यचर्या स्वयं में लोकतांत्रिक- मानवीय मूल्यों व लक्ष्यों से लैस दिखती हो किंतु व्यवहारिक रूप से इसे व्यक्त नहीं करती। हमारे देश में इस समय स्कूलों में पढ़ाए जा रहे पाठ्यक्रम और समस्त शैक्षिक प्रक्रियाएं 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005' पर आधारित होने का दावा करती हैं। यह दस्तावेज स्कूलों में बच्चों की व्यक्तिगत भिन्नताओं-क्षमताओं को सम्मान देते हुए अधिगम के अवसर देने, विविधताओं को सम्मान देते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास करने, अपने आस-पास के परिवेश से जुड़ने, समस्याओं पर चिंतन करने और आलोचनात्मक चेतना से लैस होकर निर्णय लेने योग्य बनाने जैसे वृहद शैक्षिक लक्ष्यों को स्वयं में समाहित किए हुए है। पर वास्तविकता में हमारी शिक्षा व्यवस्था आज भी रटन्त आधारित और परीक्षा परिणामों पर केन्द्रित बनी हुई है। स्कूलों में भी निजी और सरकारी का विभाजन इसके शैक्षिक स्वरूप को गहरे तक प्रभावित करता है। इस मोटे विभाजन में भी कई अन्य तरह के स्तरीकरण समाहित हैं। जैसे निजी में कुछ बहुत मंहगे स्कूल जो स्वयं को अंतर्राष्ट्रीय स्तर के होने का दावा करते हैं तो कुछ कम मंहगे और साधारण मध्यवर्गीय लोगों की आर्थिक क्षमता के अनुरूप अंग्रेजी माध्यम स्कूल हैं। वहीं सरकारी स्कूलों में भी अलग-अलग सामाजिक, आर्थिक समूहों के हितों और हैसियत के अनुरूप स्कूलों की श्रृंखला है। जैसे बिल्कुल साधारण व सामान्य सरकारी स्कूल जिसमें अधिकांशतः गरीब घरों के बच्चे शिक्षा लेते हैं। ग्रामीण मध्यवर्गीय परिवारों की अपेक्षाओं के अनुरूप नवोदय विद्यालय, सरकारी कर्मचारियों के बच्चों हेतु केन्द्रीय और सैनिक स्कूल इसी तरह प्रतिभा और एक्सीलेंस जैसे अंग्रेजी माध्यम स्कूल आदि। स्कूली व्यवस्था में व्याप्त यह स्तरीकरण 'शिक्षा के' और 'शिक्षा में' निर्धारित किए गये लोकतंत्रीकरण के लक्ष्यों को बाधित करता है। नई शिक्षा नीति, 1986 के समय से ही 'समान स्कूल व्यवस्था' (कॉमन स्कूल सिस्टम) के लिए घोषित किए गये राष्ट्रीय संकल्प को पूरा करके ही इस विचलन को दूर किया जा सकता है। इसमें 'पड़ोस के स्कूल में ही सबके लिए अनिवार्य शिक्षा' और 'प्राथमिक शिक्षा में मातृभाषा को माध्यम बनाने' जैसे कदम काफी मददगार हो सकते हैं। मुझे याद है कि अभी दो-ढाई दशक पहले भी मेरे बचपन के दिनों में अपनी तमाम कमियों और सीमाओं के बावजूद विविधताओं के समायोजन व समावेशन में स्कूली व्यवस्था कहीं अधिक सफल थी। आस-पास के गांवों और उनमें रहने वाले विभिन्न समुदायों के बच्चे वहां उपलब्ध सरकारी स्कूल में ही पढ़ने आते थे। निजी स्कूल इक्के-दुक्के ही थे। यह परिस्थिति वास्तव में कहीं अधिक लोकतांत्रिक और सीखने के अनुकूल थी। आखिर बच्चों के मध्य व्याप्त यह विविधता, अंतर व अनेकानेक अनुभव जन्य जीवन दृष्टि उन्हें आपस में संवेदनशील, सहिष्णु, उदार और दूसरों के नजरिये से सोचने-समझने योग्य बनाती थी जिसे किसी किताब से नहीं सीखा जा सकता। आज हम भले ही वैश्विक नागरिकता की बात करते हों किन्तु उसमें समाहित विचारों का आर्थिक पक्ष ही व्यवहार में सबल दिखाई देता है जिसमें पूंजी, वस्तु, सेवाओं और श्रम का अबाध प्रवाह व एकीकरण शामिल है। हालांकि इस सीमित समझ को भी हाल में उभरी दक्षिणपंथी राजनीतिक लहर ने कमजोर किया है। वैश्विक नागरिकता की संकल्पना में स्थानीयता के महत्व, संस्कृतियों के सह-अस्तित्व, लोकतांत्रिक अधिकारों व मानवीय मूल्यों की स्वीकार्यता, पर्यावरणीय चिंताएं आदि को स्थान देना और शिक्षा की अंतर्वस्तु में इसे पिरोना बहुत आवश्यक है। हमारे समय की बहुत-सी समस्याएं तभी सुलझ सकती हैं। राष्ट्रवाद की संकीर्ण और नई लहर लोगों को भ्रमित करके उन्हें गैर जरूरी मुद्दों में उलझा रही है। शिक्षा को इन स्थितियों से जूझना होगा। पर इसके लिए स्वतंत्र चेता लोगों को लड़ाई लड़नी होगी। अधिकतर मामलों में प्रभावशाली-वर्चस्वपूर्ण समूहों के हितों द्वारा संचालित राजसत्ता शिक्षा में आसानी से इन बदलावों के लिये तैयार नहीं होगी। वर्तमान स्कूली संरचना में व्याप्त स्तरीकरण जहां विभेदों को मजबूत बनाती है वहीं घोषित शैक्षिक लक्ष्यों को भोंथरा भी। इसके अलावा शिक्षा की प्रक्रिया में ऐसे आर्थिक कौशलों को भी समाहित करना होगा जो हमारे बच्चों को बड़े होने पर आत्मनिर्भर, स्वतंत्र और खुशहाल जीवनयापन योग्य बनाए न कि निर्देशों को मानने वाले रोबोट जो बस दूसरों की इच्छा या कृपा पर निर्भर हों।

वर्तमान पूंजीवादी बाजार व्यवस्था अपनी वृहद उत्पादन प्रणाली और मुनाफाखोर प्रवृत्ति से मात्र प्रकृति का अंधाधुंध दोहन करके पर्यावरण व जीविका संबंधी संकट ही पैदा नहीं कर रही अपितु इसके एक प्रमुख परिणाम के रूप में कुछ प्रतिशत लोगों के हाथ में विश्व की अधिकांश संपत्ति का संकेन्द्रण भी कर रही है। यही कुछ लोग बेतहाशा

संसाधन अपव्यय कर रहे हैं और अभावों में जी रहे अधिकांश लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णय लेने का अधिकार भी इन्हीं के हाथों में आता जा रहा है। आधुनिक लोकतंत्रिक देशों में चुनावों में धन की भूमिका में हो रही बेतहाशा वृद्धि इसका एक उदाहरण है। पिछले दिनों इन्हीं सब से तंग आकर अमेरिका में लोगों ने निन्यानवे बनाम एक प्रतिशत का नारा देते हुए पूंजीवादी वर्चस्व के खिलाफ झंडा बुलंद किया था। वर्चस्व जमा चुकी यह बाजार व्यवस्था अपने जटिल उत्पादन व वितरण व्यवस्था में लोगों की क्षमता को खंडित करते हुए उन्हें उनके ही श्रम और उत्पादित वस्तु पर नियंत्रण या उसके निर्धारण से अलग कर देती है। शिक्षा में भी अपने इसी स्वरूप के अनुरूप वह निर्देशित भूमिका को मानने वाले और खंडित कौशल से लैस श्रमबल तैयार करने पर जोर देती है। इस खंडित कौशल को हम इस तरह समझ सकते हैं कि एक पूर्ण उत्पाद जैसे कार या कोई मशीन पूरी तरह से कोई एक व्यक्ति नहीं बनाता या बना सकता है, इसके लिए अलग-अलग पार्ट अलग-अलग लोग बनाते हैं। वास्तव में यह विखंडन स्वयं मनुष्य का भी विखंडन है जिसमें उसकी स्वायत्तता, लगाव व स्व का निषेध हो जाता है। इसमें व्यक्ति अपने परिवेश या समाज की चिंता से दूर अपनी ही उत्तरजीविता को बनाए रखने के प्रयास से नहीं निकल पाता। जबकि इस व्यवस्था से पहले अधिकतर कामों में लगे लोग चाहे वह किसान हों या कुम्हार हों या कोई और अपने काम में पूर्ण कुशल व निर्धारक की भूमिका में थे। शिक्षा को वह रास्ता तलाशना होगा जिससे वह इस आर्थिक दबाव से मुक्त होकर पूर्ण मनुष्यता का पाठ पढ़ा सके।

इन गुणात्मक बदलावों की सिद्धि हेतु बच्चों में आलोचनात्मकता, रचनात्मकता और संवेदनशीलता का विकास बहुत मायने रखता है। निर्देशित शिक्षण के बजाय उन्हें अपने संदर्भ में समस्याओं को पहचानने, उनका निदान ढूंढ़ने, पहल करने, सकारात्मक हस्तक्षेप कर पाने, दूसरे के नजरिये से सोच सकने व विविधताओं के लाभ समझ पाने जैसे अनुभव प्राप्त करने के भरपूर अवसर मिलने चाहिए। तभी वे इस संकटग्रस्त दुनिया को बेहतरी की ओर बढ़ाने में सक्षम बन पाएंगे साथ ही फिजूल में खड़े किए गए मुद्दों और संकीर्णताओं के जाल से निकलकर मानवतापूर्ण समाज की स्थापना कर पाएंगे। इस उद्यम में आधारभूत संरचना के विकास सहित कक्षा-कक्ष की शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया और शिक्षकों के प्रशिक्षण में प्रासंगिक बदलाव भी बहुत महत्वपूर्ण है। शिक्षा जैसे नितांत जरूरी मुद्दे पर भी हमारे देश में गहरी सरकारी उदासीनता दिखाई देती है जिसके परिणामस्वरूप निजी स्कूलों की बाढ़-सी आ गई है। सरकारी शिक्षा व्यवस्था की खस्ताहालत और छवि धूमिल होने से लोग भी अपने बच्चों को निजी स्कूलों के हवाले कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति निरंतर चालू है। पर एक महत्वपूर्ण बदलाव को यहां जरूर रेखांकित करना चाहूंगा, वो है पिछले कुछ वर्षों में दिल्ली के सरकारी स्कूलों की स्थिति में सुधार हेतु किये जाने वाले प्रयास। एक शिक्षक के रूप में मैंने इसे बहुत करीब से अनुभव किया है कि संरचनागत बदलावों के साथ-साथ मूल्यांकन, कक्षा-कक्ष में प्रक्रिया, सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण आदि में बदलाव हेतु सरकार द्वारा सचेष्ट प्रयास किए जा रहे हैं। यद्यपि इसके परिणाम दीर्घकाल में ही देखे जा सकेंगे। पर राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा न तो अभी तक मुख्य एजेंडा है और न ही इसमें बदलाव का कोई गंभीर प्रयास दिखाई देता है। इस मुद्दे पर बिना व्यापक सामाजिक जागरूकता और दृढ़ राजनीतिक प्रतिबद्धता के वांछित बदलाव होना मुश्किल है। सामाजिक, राजनीतिक व मानवीय चेतना की विरासत जिसे विश्व स्तर पर हमने फ्रांस व रूस की क्रांति, फांसीवादी संकटों के सबक आदि से तथा अपने देश में उपनिवेशवाद विरोधी स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उपजी राष्ट्रीय सहमति से अर्जित किया और जिसे हमारा संविधान भी अभिव्यक्त करता है, हमें इसे सहेजना होगा। यह मानवीय विरासत ही हमें मार्ग दिखा सकती है। आज धर्मनिरपेक्षता, विविधता और सह-अस्तित्व के विचारों पर बढ़ रहे खतरों से निपटने में हमें प्रत्येक क्षेत्र की पुनर्रचना करनी होगी। हमें गंभीर होकर सोचना पड़ेगा कि शिक्षा का स्वरूप चंद पूंजीपतियों के हितों से संचालित बाजार निर्धारित करेगा या हमारे सामूहिक इतिहास और विकास यात्रा में निर्मित श्रेष्ठ मानवीय चेतना इसे आकार देगी। बेशक दूसरा विकल्प ही हमें बचा सकता है। ◆

लेखक परिचय : दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. (राजनीति विज्ञान), एम.एड., एम.फिल. (शिक्षाशास्त्र) वर्तमान में दिल्ली के सरकारी विद्यालय में सामाजिक विज्ञान के शिक्षक के रूप में कार्यरत।

संपर्क : 9818455879; alokkumardu@gmail.com